संपादक
डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल
डॉ. मीना अग्रवाल

ISSN 0975-735X

शोध दिशा

56

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

Scanned with CamScanner

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त शोध पत्रिका

शोध अंक 56 अक्टूबर-दिसंबर 2021 300.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय
हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 0124-4076565, 09557746346
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा
डॉ० मीना अग्रवाल
ए-402, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)
फोन : 0124-4076565, 07838090237

दिल्ली एन०सी०आर०
डॉ० अनुभूति
सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल
07838090732

प्रबंध संपादक
डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
डॉ० शंकर क्षेम
प्रमोद सागर

उपसंपादक
डॉ० अशोककुमार
डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ० अनुभूति

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क
आजीवन (दस वर्ष): व्यक्तिगत : पाँच हजार रुपए
संस्थागत : छह हजार रुपए
वार्षिक शुल्क : आठ सौ रुपए
यह प्रति : तीन सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

Scanned with CamScanner

अनुक्रम

सहायक प्राध्यापक पद हेतु साक्षात्कार/ **डॉ॰ अनुसुइया अग्रवाल** डी॰लिट्॰ 17

लेखक और संपादक/ **डॉ॰ रामानंद शर्मा** 21

भूमंडलीकरण, स्वराज और स्वभाषा/ **डॉ॰ सर्वेश मौर्य** 26

रामचरितमानस में युद्ध एवं शांति के संदर्भ/ **आरती देवराड़ी** 34

वन कानूनों का आदिवासियों पर प्रभाव और हिंदी उपन्यास/ **डॉ॰ उमेश कुमार पांडेय** 40

एकल व सहशिक्षा वाले उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों की लिंग संवेदनशीलता के प्रति जागरूकता का अध्ययन/ **डॉ॰ जितेन्द्र कुमार वर्मा, डॉ॰ अनुपम कुमार वर्मा, डॉ॰ श्वेता पटेल** 45

तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की भूमिका/ **उर्जेश कुमार** 52

अवध के विविध वर्ग और 1857 की क्रांति/ **डॉ॰ राजकुमार वर्मा** 56

रमेशचंद्र शाह के नाटक मारा जाई खुसरो पर पारसी रंगमंच का प्रभाव/ **कृपाशंकर** 60

सुरेंद्र सुंदरम की कहानियों में मानवीय संवेदना/ **डॉ॰ राजेश कुमार** 65

मेहरुन्निसा परवेज के कथासाहित्य में कामकाजी नारी की स्थिति/ **डॉ॰ कृष्णा जून, कृष्णा देवी** 70

भिखारी ठाकुर के साहित्य में नारी-विमर्श/ **डॉ॰ मनोज कुमार** 75

भावना के इन्द्रधनुषी रंगों से बनी अल्पना : डॉ॰ शशि जोशी की गजलें/ **डॉ॰ महाराणा प्रताप सिंह 'विद्रोही'** डी॰लिट्॰ 80

'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि के अभावग्रस्त बचपन की दर्दनाक अभिव्यक्ति/ **डॉ॰ जयरामन पी॰एन॰** 85

समकालीन हिंदी कविता के बाजारवाद-संबंधी स्वर/ **डॉ॰ मलखान सिंह** 90

गोदान और यथार्थवाद/ **अनिरुद्ध गोयल** 94

कुँवरनारायण की समकालीन संवेदना/ **देवेन्द्र सिंह** 100

सूरसागर में विश्वजीवन की समस्याओं के चिरंतन समाधान/ **डॉ॰ श्यामपाल मौर्य** 104

शैलेश मटियानी के उपन्यासों में नारी-जीवन की समस्याएँ/ **सुबिया फैसल, डॉ॰ रेशमा अंसारी** 110

ऊँचाइयों वाले बौनेपन से दूर : परितोष चक्रवर्ती का काव्य/ **आशीष कुमार तिवारी** 115

'बलदेव खटिक' : व्यवस्था के चक्रव्यूह में पिसता आम आदमी/ **डॉ॰ अनिशा** 122

21वीं शताब्दी में उत्तर उपनिवेशवाद की प्रासंगिकता/ **अमित डोगरा** 129

अध्यात्म की ओर अग्रसर विज्ञान सांख्य दर्शन और हिग्स बोसॉन प्रयोग/ **डॉ॰ आयुष गुप्ता** 133

ISSN 0975-735X

Scanned with CamScanner

प्रेमचंद के कथासाहित्य में सामाजिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति/
अनिलकुमार पांडेय 137
शिवानी के उपन्यासों में चित्रित नारी-जीवन/
डॉ॰ संजय विक्रम ढोडरे, प्रा॰ अंजीर भील 141
विनय मिश्र की गजलों में सांस्कृतिक जीवनमूल्य/
अशोक कुमार यादव, डॉ॰ बुद्धमती यादव 144
डॉ॰ लता अग्रवाल की लघु कथाओं में नारी चेतना/ **डॉ॰ बबन चौरे** 151
मीडिया की नई भाषा चित्रलिपि : 'इमोजी'/ **डॉ॰ भरत शेणकर** 155
सत्यनारायण पटेल के कथासाहित्य में मीडिया का योगदान/ **बबली** 159
केयूरभूषण की रचनाओं में सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्य/
हिमेश कुमार साहू, डॉ॰ देशबंधु तिवारी 165
भारतीय संगीतकारों के परिपेक्ष में जनसंचार के माध्यमों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव :
एक अध्ययन/ **इंद्रेश मिश्रा** 169
असम में प्रचलित विवाह रीति/ **डॉ॰ जिनाक्षी चुतीया** 172
सिनेमा के माध्यम से : हिंदी फिल्मों का भाषाई सफर/ **ज्योति शर्मा** 178
विष्णु प्रभाकर की कहानियों में राजनीतिक मूल्य संघर्ष/
डॉ॰ मुंडकर माधव राजप्पा 184
वर्तमान परिदृश्य में नरेश मेहता के काव्य में युद्धविषयक चिंतन/
डॉ॰ कामना पंड्या 188
स्वतंत्रता संबंधी हिंदी की पत्रिकाएँ एक अनुशीलन/ **डॉ॰ महेश सिंह यादव** 194
शिवानी के उपन्यासों में सामाजिक बोध/ **डॉ॰ महेंद्र रघुवंशी** 199
स्वतंत्रता-पूर्व एवं बाद के भारतीय सिनेमा में देशभक्ति की भावना का तुलनात्मक
अध्ययन/ **मनप्रीत सिंह** 203
चंद्रकांता की कहानियों में चित्रित सामाजिक समस्याएँ/
ए॰ निशा, डॉ॰बी॰ कामकोटि 209
अभिज्ञानशाकुंतलम् में वर्णित राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था/
डॉ॰ नरेंद्रकुमार वेदालंकार 213
खय्याम और उनका जीवन-दर्शन/ **मो॰ शकील** 218
केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रकृति और सौंदर्य चेतना/
पप्पू यादव, डॉ॰ मनप्रीत कौर 222
आयुर्वेद में लेखन का विकास : औपनिवेशिक उत्तरी भारत
(1900 से 1947 ई॰ तक/ **पूजा, डॉ॰ सतीशचंद्र सिंह** 227
भारत में नारीवाद/ **डॉ॰ पूनम भारद्वाज** 232
भीष्म साहनी एवं राजेंद्र यादव की आत्मकथा का तुलनात्मक अध्ययन/
डॉ॰ राकेश रंजन 236
हिंदी दलित आत्मकथा : 'तिरस्कृत'/ **प्रा॰ रगडे परसराम रामजी** 240
समकालीन हिंदी कविताओं में नारी-चेतना/ **डॉ॰ सीताराम के॰ पवार** 244

ISSN 0975-735X

Scanned with CamScanner

हिंदी फिल्मों में मीरा : जीवन, मिथक और प्रतीक/ **डॉ॰ समरेंद्रकुमार** 249
कमलेश बख्शी की कहानियों में चित्रित अंधविश्वास की समस्या/ **डॉ॰ संजय विक्रम ढोडरे** 256
आत्मकथा की परंपरा/ **सोनम शुक्ला** 260
समकालीन लेखन एवं भीष्म साहनी/ **शशि** 266
ब्रजभाषा की कालजयी रचना 'उद्धव शतक' : भाव एवं भाषा/ **डॉ॰ सुमन शर्मा** 271
परंपरागत जल संरक्षण में सरकारी नीतियों की भूमिका : एक विधिक सामाजिक अध्ययन/ **सुनिल कुमार, डॉ॰ पुष्पेंद्रकुमार मुसा** 277
बलदेव वंशी के काव्य में महानगरीय बोध/ **प्रा॰ सुनील लक्ष्मण वळवी, डॉ॰ संजय विक्रम ढोडरे** 283
जोधपुर अंचल के क्षत्रिय समाज के लोकगीतों में वर्णित धार्मिक आस्था/ **डॉ॰ तरुणा पंवार** 287
प्रसाद के नाटक और रंग-निर्देश/ **उमाकांत मिश्र** 293
खड़ीबोली हिंदी गद्य के प्रारंभिक सम्मान : पं॰ सदल मिश्र/ **डॉ॰ अशोक उपाध्याय** 299
सूफी-संत और कौमी एकता/ **डॉ॰ शशिप्रभा** 305
साठोत्तरी पीढ़ी के प्रमुख हस्ताक्षर : दूधनाथ सिंह/ **डॉ॰ अरविंदकुमार उपाध्याय** 309
परिजात उपन्यास में नगरीय जीवन की संवेदनहीनता/ **कु॰ बंसती सेनापति, डॉ॰ प्रभात रंजन** 314
नागार्जुन के उपन्यासों में अभिव्यक्त मिथिला की सामाजिक संस्कृति/ **डॉ॰ भागीरथ मिश्र** 317
किन्नर केंद्रित उपन्यासों में संवेदना के विविध आयाम/ **मधुमिता ओझा** 322
आधुनिक पर्यावरणीय असंतुलन : सांस्कृतिक बोध/ **मालती मिश्रा, डॉ॰ श्यामपाल मौर्य** 327
मलखान सिंह की कविता में प्रतिरोध के स्वर/ **डॉ॰ नमस्या** 331
महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराध और मीडिया की भूमिका/ **नीरजा चतुर्वेदी** 340
किशोर न्याय (देखरेख व संरक्षण) 2015 और किशोरों का बदलता स्वरूप एक प्रबंधकीय दृष्टिकोण/ **ओजस्कर पांडेय, डॉ॰ विजयकुमार** 347
अब्दुर्रहीम खानखाना के श्रीराम/ **अशेष उपाध्याय** 354
हिंदी कहानियों में किन्नर/ **डॉ॰ सीमा चंद्रन** 359
संवदिया कहानी का संवेदनशील धरातल/ **डॉ॰ सुजाता राजेंद्र लामखडे** 366
गुरु नानकदेव की 'वाणी' में युगबोध/ **सुधा मेहला** 371
सदी की हिंदी कहानियों में चित्रित संवेदना और शिल्प/ **सुनील कुमार** 375
वृद्ध बनाम आधुनिक समाज/ **सुप्रिया प्रसाद** 380
राष्ट्रीय चेतना के विकास में 'प्रियप्रवास' महाकाव्य की प्रासंगिकता/ **डॉ॰ बाल्मीकि साहू** 384

ISSN 0975-735X

Scanned with CamScanner

गहन अनुभूति के कवि : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
डॉ॰ वंदना श्रीवास्तव 388
हिंदी बालसाहित्य में शोध (आरंभ से बीसवीं शताब्दी के अंत तक)/
डॉ॰ सुरेंद्र विक्रम 394
'जूठन' आत्मकथा में चित्रित सामाजिक यथार्थ/
डॉ॰ लक्ष्मण तुळशीराम काळे 408
जीवनमूल्यों का संसार रचती बाल कहानियाँ/ **डॉ॰ मोहम्मद अरशद खान** 413
मूल्यबोध की प्रतिष्ठापन का प्रयत्न : ज्ञान की लकीरें/ **डॉ॰ कृष्णगोपाल मिश्र** 418
ग्राम्य जीवन का कैमरामैन डॉ॰ भीकम सिंह/
रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' 422

Issues Of Women As Depicted In The Novels Of Naguib Mahfoz/**Ashaduz Zaman**
Dr. Abul Kalam Choudhury 425
Impact of Infographics (Symbols) In Mobile Application/
Gyanendra Kumar Kanauji 431
Ethics of Care and Education/
Maneesh Kumar, Dr. RashmiSrivastava 434
Chaudhary Devi Lal:True Leader of Farmers/
Dr Sunil Devi Kharb 443

समीक्षा समिति

प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ अनिलकुमार जैन, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म॰प्र॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ शशिप्रभा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)

Scanned with CamScanner

वन कानूनों का आदिवासियों पर प्रभाव और हिंदी उपन्यास

डॉ॰ उमेश कुमार पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी
शासकीय महाविद्यालय बलरामपुर
जिला बलरामपुर-रामानुजगंज (छ॰ग॰)

भारत की अधिकांश जनजातियाँ प्रत्यक्ष रूप से वन-संसाधनों का उपयोग करती हैं। खासकर कम जनसंख्या वाले जनजातीय समूह और भी प्रगाढ़ रूप से वनों से जुड़े हुए हैं। भोजन, ईंधन, लकड़ी, घरेलू सामग्री, जड़ी-बूटी, औषधियों, पशुओं के लिए चारा और कृषि औजारों की सामग्री के लिए वे वनों पर आश्रित रहते हैं। प्राचीनकाल में आदिवासी पूरी स्वतंत्रता से वन संसाधनों का उपयोग करते थे। वास्तविक रूप में वे वनों के मालिक थे। लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत से, वनों की व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा किये जाने संबंधी घोषणा से आदिवासियों और वनों के बीच स्थापित संबंध में काफी परिवर्तन हुआ है। सन् 1894 में वनों के लिए पहली राष्ट्रीय नीति बनायी गयी थी, जिसमें लोकहित में वनों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया गया था, परिणामस्वरूप वन संपदाओं पर जनजातियों के अधिकारों और उनकी सुविधाओं में कटौती हुई। इसके पश्चात भारतीय वन अधिनियम 1927, राष्ट्रीय वननीति 1952 और राष्ट्रीय वननीति 1988 के माध्यम से जनजातियों के वनाधिकारों में कटौती की गई। वनों से संबंधित जनजातियों की प्रमुख समस्याओं में जनजातियों एवं वन विभाग के बीच असहयोग व उत्तरोत्तर तनाव की स्थिति, वाणिज्यिक वनों का विस्तार, वनों की कटाई, वनग्रामों का लोप होना आदि हैं।

राष्ट्रीय वन नीति, 1988 में यह स्पष्ट किया गया है कि जनजातीय लोगों के अधिकारों तथा रियायतों को पूर्णत: संरक्षित किया जायेगा। इसके बावजूद जनजातियों एवं वन विभाग के बीच तनाव बना रहता है। इसकी एकमात्र वजह है—जनजातीय लोगों को उचित संरक्षण का न मिलना। आदिवासियों और वनों के बीच स्थापित पारंपरिक सांकेतिक संबंध सशक्त नीति-परिवर्तनों के कारण पूर्णत: छिन्न-भिन्न हो गया है। इनके पारंपरिक वानिकी अधिकार मात्र रियायत बनकर रह गए हैं। संबंधित दस्तावेजों की कमी के कारण आदिवासियों की परंपरागत कब्जे वाली खेती की भूमि को नई वननीति के तहत वनभूमि का दावा कर अर्जित कर लिया गया है। इसके फलस्वरूप, बहुत बड़ी संख्या में आदिवासी मालिकों को उनकी अपनी भूमि पर, वनभूमि पर, अतिक्रमणकारी के रूप में घोषित कर दिया गया।

शोषण का वास्तविक कारण यह भी है कि जनजातीय लोग प्राय: वन विभाग के निचले कर्मचारियों के ही संपर्क में रहते हैं। लेकिन निचले स्तर के ये कर्मचारी जब जनजातीय लोगों को निजी उपभोग के लिए लकड़ी नहीं काटने देते, वन श्रमिक के रूप में जब कम मजदूरी देते हैं और लघु वनोत्पाद नहीं एकत्रित करने देते तब उनके बीच टकराव होता है। कई बार वनरक्षक, वनदरोगा आदिवासियों से रिश्वत की माँग भी करते हें जिसके न मिलने पर भी टकराव की नौबत

ISSN 0975-735X

Scanned with CamScanner

आती है। यद्यपि वन कर्मचारी स्थानीय लोग ही होते हैं, किंतु जिस व्यवस्था का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी के मूल्यों के चलते वह स्थानीय समूहों के हितों के विरुद्ध चले जाते हैं। 'नई नीति में वन-संपदाओं से अधिकतम राजस्व की वसूली पर दिये गये बल के परिणामस्वरूप विभिन्न वन कार्यवाहियों में ठेकेदार शामिल हो गए। वनकर्मियों के साथ मिलकर इनके द्वारा किये गए नुकसान से न केवल वनों का सर्वनाश हुआ, वरन आदिवासियों का असीमित शोषण भी हुआ।"[1]

इसके अलावा कभी-कभी प्राकृतिक वनों को काटकर उनकी जगह वाणिज्यिक वृक्ष कच्चे माल के तौर पर उगाये जाते हैं, ये वृक्ष जनजातियों के लिए अनुपयोगी होते हैं, इसलिए भी विरोध होता है। बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, ओड़िशा एवं पश्चिम बंगाल के वन स्थलों पर जनजातीय आंदोलन हुये हैं। आदिवासी अपने क्षेत्र में उन वृक्षों को उगाना नहीं चाहते जो उनके लिए, उनके जानवरों के लिए तथा स्थानीय पर्यावरण के अनुकूल नहीं होते हैं। जैसे साल वृक्ष जनजातियों के लिए सागौन या यूकेलिप्टस की तुलना में ज्यादा उपयोगी होता है, क्योंकि उससे न केवल लकड़ी मिलती है बल्कि बीज-तेल के लिए फूल, पत्तियाँ एवं औषधि के लिए छाल प्राप्त होती है। इसके विपरीत वन विभाग के लिए सागौन राजस्व की दृष्टि से ज्यादा फायदेमंद होता है। राजस्व प्राप्त करने के लिए वनों के एकतरफा दोहन ने आदिवासी संस्कृति को तो नुकसान पहुँचाया ही है, पर्यावरण को भी गंभीर क्षति पहुँचायी है।

वर्तमान समय में वनक्षेत्रों में हो रहे निरंतर ह्रास ने जनजातियों की समस्या को और गंभीर बना दिया है। एक आकलन के अनुसार कृषि, खनन, नदी घाटी परियोजना, उद्योग, यातायात तथा अन्य विविध कार्यों हेतु देश में लगभग 37.5 लाख हेक्टेयर वनक्षेत्र का उपयोग कर लिया गया है। दिनों-दिन वनों के हो रहे इस ह्रास से जनजातियों की आजीविका पर गहरा संकट उत्पन्न हो गया है। यदि हम पीछे मुड़कर देखें तो पाते हैं कि 'सन् 1865 के वन-कानून के द्वारा सर्वप्रथम आदिवासियों को उनके मूल वनाधिकारों की परंपरा से बेदखल किया गया। सन् 1927 के वन कानून संशोधन वस्तुतः इस कोढ़ में खाज थे जिन्होंने जनजातियों के सामुदायिक अधिकार भी उनसे छीन लिये और सन् 1932 की वननीति तो और भी मारक थी, जिसने वन के आदि बाशिंदों को वन-विभाग का बँधुआ मजदूर बनाकर छोड़ दिया। वनपुत्रों के खेत-खलिहान तक वनक्षेत्र घोषित कर आदिवासियों को बेघर कर दिया।"[2]

वर्तमान समय में भी तमाम जनजातियाँ अपनी आजीविका के लिए वन पर निर्भर हैं। जलावन की लकड़ी, चारा और लघु वनोत्पादों के लिए आदिवासियों को वन का सहारा लेना ही पड़ता है। लेकिन समस्या तब आती है जब वन के छोटे कर्मचारियों और आदिवासियों के बीच वनों के इस्तेमाल को लेकर टकराव होता है। 'वनतरी' उपन्यास में फारेस्ट गार्ड मिथिल से लकड़ी काटने को लेकर उलझता है–'क्यों रे मिथिल? तुम चोरी करना नहीं छोड़ोगे? यह वन तुम्हारे बाप का है कि रोज-रोज बल्लियाँ काटकर ले जाते हो।"[3] इस प्रसंग में मिथिल का जवाब भी उल्लेखनीय है। वह फारेस्टगार्ड से कहता है–'मगर तुम क्यों भूलते हो कि जंगल पर हम लोगों का तुमसे कहीं अधिक हक है। जंगल तुम्हारी नौकरी है, और यह मेरा घर है। तुमसे ज्यादा दर्द है हमारे सीने में। मगर जरूरत के लिए तुम रोक नहीं सकते।"[4]

वस्तुतः जंगलों की मूल समस्या यह नहीं है कि आदिवासियों के दोहन से उनका निरंतर क्षरण हो रहा है। समस्या तो तब आती है जब खुद सरकारी मुलाजिम स्थानीय ठेकेदारों के साथ मिलकर जंगलों की अंधाधुंध कटाई करवाते हैं। अवैध कटाई और उनके पुनर्जीवन पर उचित

Scanned with CamScanner

ध्यान न दिये जाने की वजह से अच्छे खासे जंगल लगातार बंजर भूमि में बदलते जा रहे हैं। 'वनतरी' उपन्यास की वनतरी सोचती है–'एक भी पौधा रोपने वाला कोई नहीं। ऊपर से रेंजर और फारेस्टर के इशारे पर पूरा-का-पूरा जंगल काटकर गिराया जाता है, ट्रकों में भरा जा रहा है। रात-रातभर बंदूकों की आवाजें गूँजती हैं। ठेकेदार मोटे होते गए और हम आदिवासी जो जंगलों पर आश्रित हैं, मुँह ताकते रहे।'[5] इसी उपन्यास में वनतरी अपने साथी मिथिल से आगे और दु:ख व्यक्त करते हुए कहती है–'लाह के लालच में पलाश उजाड़ दिए गए। बीड़ी के व्यापार में तेंदू के पेड़ों का सिर काट दिया गया। हर्रे, बहर्रे और आँवला के फलदार वृक्ष, जिन्हें हम बाजारों में बेचकर अपना गुजर-बसर करते हैं, उन्हें तुम्हारी सरकार के मुलाजिमों ने जड़ से कटवाकर कोयला बनवा दिया। गुइंता और गूलर भी कट गए। सेमल के पेड़ कट रहे हैं तो रुई का कारोबर बंद हो गया। क्या तुम बता सकते हो मिथिल, कि इस जंगल को उजाड़ देने से सरकार को क्या मिलेगा?'[6]

वन हजारों वर्षों से आदिवासी संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा रहे हैं। आदिवासियों के विभिन्न समूहों का सांस्कृतिक विकास वनों के साथ-साथ हुआ है। वन-संसाधनों का तीव्र क्षरण तब प्रारंभ हुआ जब आदिवासियों के क्षेत्रों में गैर आदिवासियों का हस्तक्षेप बढ़ा। जब तक ये गैर आदिवासी आदिवासी क्षेत्रों से दूर थे तब तक वनों और आदिवासियों के बीच परस्पर समतामूलक संबंध थे। वनों का दोहन आदिवासी अपनी जरूरत के हिसाब से उचित तरीके से करते थे। लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास तीव्र गति से होता गया और वन संसाधनों का प्रचुर दोहन हुआ, वैसे-वैसे प्राकृतिक असंतुलन और पर्यावरणीय विनाश की शुरुआत हुई। इस स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने सघन वृक्षारोपण अभियान चलाया। ज्यादातर उन वृक्षों को तरजीह दी गई जो संसाधन के रूप में ज्यादा उपयोगी थे। ऐसे में आदिवासियों के लिए जरूरी वृक्षों की उपेक्षा हुई। सरकार द्वारा फलदार वृक्षों को वृक्षारोपण में तरजीह दिए जाने को लेकर 'वनतरी' उपन्यास में सुकुल परहिया अपनी बहन वनतरी से दु:खी होकर कहता है–'क्यों? क्या महुआ फलदार वृक्ष नहीं है?...सारे परहिया चोर हो गये तो क्या मैं भी चोर बन जाऊँ।...फिर तुम्हारी सरकार की खोपड़ी कुछ उल्टी है, वह तो अपनी जरूरत के लिए पेड़ लगाती है, चाहे साखू हो चाहे सागौन। हम लोगों की जरूरतों का किसी को ध्यान ही नहीं। उन्हें क्या पता नहीं कि इस जंगल में जितनी तेजी से महुए के वृक्ष नष्ट हो रहे हैं, उतनी ही तेजी से हमारी जाति भी नष्ट हो रही है।'[7]

आजकल वनों से संबंधित नये-नये कानूनों की वजह से ही आदिवासियों के समक्ष आजीविका का घोर संकट पैदा हो गया है। पहले जहाँ तमाम वनोपजों के संग्रहण से आदिवासियों को अपनी रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने के लिए पैसे मिल जाते थे वहीं अब परंपरागत रोजगारों के छिन जाने से उनके समक्ष गंभीर संकट पैदा हो गये हैं। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास के लेखक राकेश कुमार सिंह लिखते हैं–'लाह, गोंद, चिरौंजी, गोलोचन, वंशलोचन, शहद, लकड़ियाँ ....पहले जीवन के लिए जरूरी सारे सरंजाम जुट जाते थे जंगलों से। वनोपज बाजार में बेंचकर चार पैसे नकद भी हाथ में होते थे। जब से जंगल पर 'गोरमिंट' का रोका-छेंका लगा है, सब चीजें सपना हो गयी हैं। नमक-भात चलाने के लिए आदिवासियों को अन्य दूसरे कई तरह के काम करने पड़ते हैं अब।'[8] रोजगार का संकट जंगलों के पराएपन ने कितना गहरा कर दिया है, इसे संजीव ने 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में भी व्यक्त किया है। थारू जनजाति के बिसराम पर

ISSN 0975-735X

Scanned with CamScanner

आजीविका के आये संकट के संबंध में लेखक लिखता है–'जंगलों में बेंत है। हाथ में हुनर है, झूड़ी, खाँची तो बना ही सकता है वह। लेकिन उसे लाने कौन देगा? बेंत का ठेकेदार एक जल्लाद, दूसरे जल्लाद वन-विभाग वाले। कहाँ से ले आए रकम घूस-पाती के लिए। बिसराम के सामने भरी दोपहरी चारों ओर अंधेरा था।'[9] इसी तरह की पीड़ा 'पाँव तलेकी दूब' उपन्यास में भी व्यक्त की गयी है। उपन्यास का पात्र फिलिप, समीर से कहता है–'ये जंगल हमारे होते तो हमारी सुनी जाती। ये जंगल हमारे होते तो इसे सुक्खूसिंह न कटवा पाते, न ही सरदार इसे बाहर भेज पाते। हमारे होते तो रोकने पर पुलिस हमीं को न पीटती। यह पूरा झारखंड अभयारण्य है सर! अभयारण्य इन सालों का और हम इनकी खुराक!'[10] आदिवासियों की आजीविका पर आये इस संकट को 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में लेखक राकेशकुमार सिंह और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'जंगल में जब से बाँस काटने पर रोक लगी है, मुंडा लोगों के लिए बड़ी दिक्कत हो गयी है। बढ़नी-बेना (झाड़ू-पंखा) के लिए एकाध बाँस भले चोरी-छिपे काट लें, पर ज्यादा बाँस चाहिए तो जंगल बाबू को रुपये देने पड़ते हैं।'[11] लेखक पर्यावरण विनाश के बहाने सरकार द्वारा आदिवासियों के शोषण पर टिप्पणी करता है, 'जंगलों का दोहन इतनी निर्ममता से किया जाता रहा है कि कभी वनपति समझी जाने वाली जनजातियाँ अब सादानों की रैयत बनकर रह गयी हैं। पर्यावरण विनाश के शोर, पारिस्थितिकी असंतुलन के स्यापे, वन्यप्राणियों एवं वनस्पतियों को संरक्षित करने के तमाशों में उस चीख और पीड़ा को घोंट-घोंटकर दबाया जाता रहा है जो वनवासियों के जीवन में व्याप्त है।'[12]

वन-कानूनों की कमजोरी का फायदा भी अक्सर गैर आदिवासी ही उठाते हैं। प्रायः ठेकेदार और महाजन लोग भोले-भाले आदिवासियों का अपने हित में इस्तेमाल करते हैं और यही उनके आर्थिक शोषण का एक बड़ा कारण भी बनता है। 'पठार पर कोहरा' में लेखक राकेश कुमार सिंह आगे इस समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं–'जंगल से जुड़ा हर ठेका किसी आदिवासी के नाम पर ही लिया जाता है। कोई ऐसा आदिवासी जो बेचू तिवारी का नमक मानता हो और जंगल-सेना का भय खाता हो। हर कागज-पत्तर पर चुपचाप अँगूठा निशान लगाता हो और किसी पूछगच्छ के समय मालिक मुख्तार बनाकर बिजूके की भाँति सामने खड़ा कर दिया जाता हो। डोर बेचू तिवारी के हाथ में होती है जिसके खिंचने पर काग भगौआ जैसे आदमी की मुंडी 'हाँ-नहीं' में डोलती है।'[13] आदिवासियों को ढाल बनाकर उनके नाम पर तमाम गैर कानूनी धंधे होते हैं जिसकी कीमत अंततः आदिवासियों को ही चुकानी पड़ती है। लेकिन अशिक्षा और जागरूकता के अभाव में समाज में आदिवासियों के शोषण की यह प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है।

वन कानूनों की आड़ में आदिवासियों के शोषण से चिंतित सरकार ने उनकी जरूरतों को ध्यान में रखते हुए 'अनुसूचित जनजाति एवं अन्य परंपरागत वनवासी (वन अधिकारों को मान्यता) कानून, 2006' पारित किया है। जिसे 1 जनवरी, 2008 से अधिसूचित किया गया है। इस कानून के तहत वन अधिकारों को मान्यता देने और अधिकार प्रदान करने के लिए निर्धारित तिथि 13 दिसंबर, 2005 रखी गयी है। इस अधिनियम के द्वारा वनवासियों को अब वह अधिकार प्राप्त हो गए हैं जो 'भारतीय वन कानून, 1927' के द्वारा 80 वर्ष पूर्व उनसे छीन लिए गये थे। अब विगत तीन पीढ़ियों अथवा 75 वर्षों से वनों में रह रहे लोगों को वन अधिकार एवं वनभूमि पर कब्जे की मान्यता मिल गयी है। यहाँ तक कि राष्ट्रीय उद्यान और अभयारण्य के रूप में चिह्नित स्थलों पर

Scanned with CamScanner

भी उन्हें नियमित तौर पर अधिकार प्रदान किये जाएँगे। अब आदिवासी लघु वनोत्पादों के संग्रह, इस्तेमाल और बिक्री के लिए भी स्वतंत्र होंगे। इस प्रकार इस नये वनाधिकार कानून में परंपरागत आदिवासियों को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। यह सही है कि वनवासियों को उनका मालिकाना हक दिया जा रहा है लेकिन इसका लाभ सीमित आदिवासियों को मिल पा रहा है। आदिवासियों की अधिकांश आबादी अभी भी परंपरागत समस्याओं का सामना कर रही है। व्यावहारिक स्तर पर वनोपज के दोहन में आदिवासी आज भी स्वतंत्र नहीं हैं। वनो में ठेकेदारी प्रथा ने आदिवासी हितों को गहरी चोट पहुंचायी है। आदिवासियां को उनके लघु वनोपजों का उचित मूल्य नहीं मिल पाता जिस कारण उनका जीवन आज भी रोजी-रोटी के संकट के बीच ही बीत रहा है। जीवन की मूलभूत सुविधाएँ उन्हें आज भी प्राप्त नहीं है। आदिवासियों के समग्र विकास को ध्यान में रखते हुए नीति निर्माण आज की आवष्यकता है। समर्थ और सषक्त भारत का सपना आदिवासियों के सर्वांगीण विकास से ही पूरा हो सकता है।

संदर्भ

1. रूपचंद्र वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ॰ 86, द्वितीय संस्करण 2003
2. राकेशकुमार सिंह, पठार पर कोहरा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ॰ 155, द्वितीय संस्करण 2005
3. सुरेशचंद्र श्रीवास्तव,, वनतरी, वाणी प्रकाषन, नई दिल्ली, पृ॰ 24, प्रथम संस्करण 1986
4. वही, पृ॰ 24
5. वही, पृ॰ 87
6. वही, पृ॰ 88
7. वही, पृ॰ 65
8. राकेश कुमार सिंह, पठार पर कोहरा, पृ॰ 47
9. संजीव, जंगल जहाँ शुरू होता है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 23, प्रथम संस्करण 2000
10. संजीव, पाँव तले की दूब, प्रवीण प्रकाषन, नई दिल्ली, पृ॰ 83, प्रथम संस्करण 1995
11. राकेश कुमार सिंह, पठार पर कोहरा, पृ॰ 72,
12. वही, पृ॰ 153
13. वही, पृ॰ 24

umessumitraraj@gmail.com
Mob. 8120975244

ISSN 0975-735X

Scanned with CamScanner